

वैदिक ग्रंथों में नारी की संरचना

सुवीरा जायसवाल

आधुनिक युग में जैसे जैसे लोकतांत्रिक चेतना का विकास हुआ है, मानवाधिकार के प्रति भी जागरूकता उत्पन्न हो रही है। कहा जा सकता है कि इसका एक पक्ष सदियों से चली आ रही रूढ़िबद्ध स्त्री की पराधीनता का प्रतिरोध और नारी केन्द्रित विमर्श भी है। नारीवादी और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों से इस विषय पर काफी कुछ लिखा जा रहा है, परंतु प्राचीन भारत के इतिहास की इस दृष्टि से पुनर्पाठ की विशेष आवश्यकता है क्योंकि अधिसंख्य भारतीय पारम्परिक मूल्यों और पूर्वाग्रहों से ऐसे ग्रन्थ हैं कि उनकी तह में जाना और उन पर प्रश्नचिह्न लगाना उनके लिए निन्दाजनक और असहनीय हो उठता है। फिर भी सार्थक इतिहास लेखन परम्पराओं और जड़ीभूत मान्यताओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की पड़ताल, उनकी सामाजिक भूमिका और उनमें सातत्य और परिवर्तन के तत्वों के विश्लेषण के बिना नहीं किया जा सकता। इससे प्रचलित मान्यताओं को चुनौती मिल सकती है और उनका एक से अधिक पाठ भी। कुछ वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर ने शकुंतला की कथा के विभिन्न साहित्यिक और नाटकीय प्रस्तुतीकरणों में हुए सूक्ष्म बदलावों का अंतर्सम्बंध प्रस्तुतकर्ताओं के समकालीन परिवेश में निहित स्त्री की परिकल्पना से दिखाने का स्तुत्य कार्य किया है¹ जो इतिहास लेखन की वैज्ञानिक समझ की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। परंतु नारी विषयक परम्परागत परिकल्पनाएं और उनके गढ़न के इतिहास का समुचित विश्लेषण अभी भी किया जाना है। विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों और कालावधियों में स्त्रियों की अवस्थिति पर निश्चय ही कुछ ग्रंथ एवं लेख लिखे गये जिनमें कहीं पाश्चात्य प्राच्यविदों द्वारा भारतीय सामाजिक व्यवस्था और रीति रिवाजों की कटु आलोचना की प्रतिक्रिया नजर आती है तो कहीं सुधारवादी दृष्टिकोण। परंतु अधिकतर ये वर्णनात्मक प्रयास ही रहे और उनमें नारी की सामाजिक संरचना में मर्दवाद और मौलिक परिवेश की क्या भूमिका रही, इस पर ध्यान नहीं दिया गया।

ब्राह्मणीय विचारधारा का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद ² है और मोटे तौर पर यह कहना सही होगा कि इसमें संकलित ऋचाओं का दृष्टिकोण और सामाजिक संदर्भ पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। परंतु क्या सभी ऋचाएं एक सी जीवन शैली दर्शाती हैं? यह भी निर्विवाद सत्य है कि ऋग्वेद किसी एक मनीषी की रचना नहीं है, उपलब्ध ऋचाओं का रचनाकाल पांच सौ वर्षों से भी अधिक समय में फैला हुआ है। कुछ ऋचाओं का संदर्भ आर्य जनजातियों का घुमंतू जीवन है तो कुछ में, स्पष्ट ही बाद की रचनाओं में, व्यवस्थित ग्रामों में स्थायी निवेशन का वर्णन। ऐसे में इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि बदलते परिवेश का प्रभाव सामाजिक विन्यास और बंधुता और स्त्री पुरुष सम्बंधों पर भी पड़ा और पुरानी शब्दावली नये अर्थों में प्रयुक्त होने लगी। उदाहरण के लिए हम ऋग्वेद के सातवें मंडल के एक सूक्त (VII-55) को लें। यह सूक्त निवासगृह अर्थात् वास्तु के अधिष्ठाता देवता वास्तोष्पति को सम्बोधित करते हुए ऐसी बस्ती का विवरण देता है जिसका मुखिया विश्वपति, माता पिता तथा पूरे आनुवंशिक समूह (जाति) और (पालतू) कुत्ते के साथ एक ही 'हर्म्य' में शयन करता है, जहां कुछ स्त्रियां प्रोष्ठ पर सो रही हैं तो कुछ वाहनों के भीतर (वध्येशया)। ऐसे हालात यायावर समूह के अस्थायी निवास में ही हो सकते हैं और इनको अथर्ववेद के उन प्रसंगों से मिला कर देखा जा सकता है जहां कहा गया है कि हम (चल) आवास के बंधन खोलते हैं और एक 'वधू' की तरह जहां चाहते हैं उसे ले जाते हैं। ³ फिर भी पूर्वाग्रह का ऐसा दबाव होता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त में वास्तोष्पति की आराधना को वैदिक जनजातियों के क्षेत्रीय स्थायित्व का प्रमाण मान लिया गया ⁴ क्योंकि आगे चल कर वास्तु उस भूमि का पर्याय हो गया जिस पर किसी घर या भवन का निर्माण हो, और वास्तोष्पति भवन की नींव का अभिरक्षक देवता। इसी प्रकार मेरा ऐसा मानना है कि ऋग्वेद के अनेक स्रोत पद, जिनको पितृसत्ता के द्योतक के रूप में पारिभाषित किया गया है वस्तुतः केवल पितृवंशिकता (पेट्रिलीनिज) दिखलाते हैं पितृसत्ता (पेट्रियाकी) नहीं। वैदिक जनजातियों में पितृसत्ता उनमें स्तरीकरण की प्रक्रिया के साथ घनीभूत हुई। स्त्रियों की पराधीनता की समस्या केवल उनके प्रजनन सम्बंधी दायित्व से ही नहीं बल्कि समाज में व्याप्त उत्पादन व्यवस्था से भी घनिष्ठ रूप से सम्बंधित है।

अक्सर यह दलील दी जाती रही है कि स्त्रियां सभी देशकाल में पुरुषों के अधीन रही हैं। इसका मूलाधार जैविक है और यौनिक श्रम विभाजन प्रजनन प्रक्रिया में स्वाभाविक रूप से अंतर्निहित है। स्टीवन गोल्डबर्ग और इवांस प्रिचर्ड जैसे नृतत्वशास्त्रियों ने स्त्री और पुरुष शरीर में भिन्न प्रकार के हॉर्मोनों के होने पर बल देते हुए पितृसत्ता को अवश्यम्भावी और स्वाभाविक सामाजिक व्यवस्था बतलाया। उन्होंने मागरेट मीड और सिमोन दि बुवोर आदि महिलाओं के उन तर्कों को पूरी तरह नकार दिया जिनके अनुसार पितृसत्ता संस्कृतिजन्य है, जैविक नहीं। इस प्रकार का जैविक निर्यातवाद उन्नीसवीं सदी के उन नस्लवादी सिद्धांतों के करीब है जिनके अनुसार 'श्वेत नस्ल' के लोग अफ्रीका और एशिया में रहने वाले 'काली' और 'पीली' नस्लों के लोगों से जैविकीय रूप से श्रेष्ठतर थे और इसी कारण वे अफ्रीकी और एशियायी देशों पर आसानी से आधिपत्य ही नहीं जमा सके यह मानव सभ्यता के विकास की दृष्टि से उचित भी था। अनेक महिला नृतत्ववेत्ताओं ने नृतत्वशास्त्रीय अवधारणाओं में पुरुषवादी पूर्वाग्रहों की भूमिका की ओर ध्यान आकर्षित किया है। गर्ड लर्नर और एलिनोर बी. लीकॉक सरीखी विदुषियों के गहन समीक्षात्मक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि सामुदायिक संगठनों का स्वरूप चाहे पितृवंशिक रहा या मातृवंशिक, आरम्भ में स्त्री पुरुष सम्बंध पारस्परिकता और अपने अपने क्षेत्रों में स्वायत्तता पर आधारित थे, परवशता पर नहीं। साथ ही यह बात भी अब लगभग सर्वमान्य है कि मातृवंशिक समुदायों में भी जहां स्त्रियों को अपेक्षाकृत अधिक स्वायत्तता और स्वतंत्र कर्तृत्व हासिल था, जैसे जैसे सामाजिक विषमता बढ़ी और निजी सम्पत्ति का विकास हुआ, वास्तविक सत्ता पुरुषों के हाथ में आ गयी। केवल पिता के स्थान पर मामा का वर्चस्व स्थापित हुआ।

जो भी हो, ऋग्वेद की जनजातियां पितृवंशिक थीं और पितृस्थानिक (पेट्रीलोकल) भी, परंतु क्या

इन जनजातियों का सामाजिक गढ़न पितृसत्तात्मक परिवारों से बना था जिसमें उत्पादन और उपभोग की मूल इकाई ऋजु क्रमानुगत संयुक्त परिवार थी और परिवार के सभी सदस्य, कनीय पुरुष और स्त्रियां, कुल के मुखिया के निरंकुश नियंत्रण में थे या उत्पादन की इकाई संयुक्त परिवार से बड़ी इकाई, 'क्लैन' (clan) जैसी इकाई, 'विश्व' थी जो बाद में 'स्थायी अधिवास' का द्योतक बनी और जिससे 'वैश्य' शब्द बना है। यह समस्या विवादग्रस्त ⁵ है और हमारा उत्तर इस बात पर निर्भर करेगा कि हमारी समझ से मूल निर्वाह के संसाधनों पर शुरू से ही ऋजु क्रमानुगत संयुक्त परिवारों का अधिकार था या 'विश्व' जैसी सामाजिक इकाई का। यहां हम इस विवाद में जाना नहीं चाहते पर यह तो माना ही जा सकता है कि विभिन्न स्रोतों के रचनाकाल में सदियों का अंतर होने की वजह से उनके भौतिक परिदृश्य में भी अंतर हो सकता है। स्रोतों के स्तरीकरण की आवश्यकता पर अनेक विद्वानों ने जोर दिया है। इसके अतिरिक्त इस बात की भी सम्भावना है कि सभी जनजातियों में एक ही प्रकार के सामाजिक नियम और आस्थाएं प्रचलित न थीं और अपने आनुष्ठानिक महत्व के कारण संहिता में संकलित कुछ ऋचाएं ऐसी भी हैं जिनके विचार तत्वों की मूल प्रेरणा ऐसे आर्येतर जन समुदायों से आयी जो अंततः आर्यीकृत होकर वैदिक समाज के ही अंग बन गये। स्त्रियों की स्वायत्तता तथा स्वतंत्र कर्तृत्व के जो थोड़े बहुत चिह्न हमें ऋचाओं में मिलते हैं उनका मूल स्रोत जो भी रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि पितृसत्ता उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो रही थी और अक्सर स्त्री का चित्रण 'अन्या' के रूप में ही हुआ है।

ऋग्वेद के कुछ प्रसंग बहुपत्नीत्व दर्शाते हैं तो कुछ भातु बहुपतित्व। ⁶ दोनों ही प्रथाएं पितृसत्तात्मक विचारधारा के अनुकूल हैं, स्त्री को 'भोग्या', 'वस्तु' और 'सम्पत्ति समझने की प्रवृत्ति। परंतु कुछ अवतरण ऐसे भी हैं जिनके आधार पर यह माना गया है कि नारी स्वेच्छा से अपना वर चुन लेने के लिए स्वतंत्र थी और स्वच्छंद रूप से सामुदायिक यज्ञों और 'समन' उत्सवों में सजधज कर भाग लिया करती थीं। ⁷ अनुमान लगाया गया है कि ऐसे ही अवसरों पर युवक और युवतियां एक दूसरे का चुनाव करते रहे होंगे। परंतु ऐसा खुलापन तो परवर्ती ऋग्वैदिककाल में ही समाप्त हो चुका था क्योंकि ऋग्वेद (X.86.10) में इंद्राणी के मुख से कहलाया गया है कि "नारी प्राचीनकाल में संहोत्र (सामुदायिक यज्ञ) और 'समन' में जाया करती थी।" सामान्यतः सभी प्राच्यविद् और इतिहासकारों ने समन का अर्थ 'ऋतुगत उत्सव' अथवा सामुदायिक मेला ही लगाया है। परंतु सायण इसकी व्याख्या वहीं 'समान मनस्का (स्त्री)' के अर्थ में तो वहीं 'यज्ञ' के अर्थ में और इस अवतरण में 'युद्ध' के अर्थ में करते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि 'समन' जैसे उत्सवों में नारियों के मुस्कराते हंसते हुए सजधज कर जाने की प्रथा तो परवर्ती ऋग्वैदिककाल में ही बंद हो चुकी थी, अतः सायण से बहुत पहले यास्क भी इसी तरह की व्याख्याएं करते हैं।

परंतु उपरोक्त अवतरण में सायण की व्याख्या स्वीकार करने से पूर्व हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि यह सूक्त इंद्र और इंद्राणी के बीच संवाद के रूप में है और इसकी विषयवस्तु जनन क्षमता है। इसका प्रयोग किसी उर्वरता सम्बंधी, कर्मकांड में होता रहा होगा। ऐसी 'संवाद' वाली ऋचाओं का नाट्य किया जाता था। दो या तीन प्रधान पात्र संवाद करते थे और अन्य टेक लगाते थे, जैसे कि इस तेईस ऋचाओं के सूक्त में प्रत्येक ऋचा का अंत इस टेक से हुआ है — 'विश्वस्मादिन्द्रउत्तरः', इंद्र सर्वश्रेष्ठ हैं। यहां प्रसंग प्रजनन का है युद्ध में विजय का नहीं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के दो सूक्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दासों में स्त्रियां भी युद्ध में भाग लेती थीं, आर्यों की यह परम्परा नहीं थी। एक स्थान पर (V.30-7-9) कहा गया है कि — "दास नमुचि युद्धक्षेत्र में स्त्रियों को ही अपना आयुध बना कर लाया था। जिसे देख इंद्र ने उपहास करते हुए कहा कि यह अबला सेना मेरा क्या कर सकती है। इंद्र ने नमुचि का शिरच्छेद कर दिया।" अन्यत्र (X.27-10) इंद्र कहते हैं कि "जो पुरुष अपनी स्त्रियों के साथ मुझसे युद्ध करने आया है उसका धन मैं बिना युद्ध किये ही अपने भक्तों में बाट देता हूं।" दृष्टव्य है ⁸ कि अर्थशास्त्र (1.21.10) में कौटिल्य निर्देश देते हैं कि राजा की रक्षा के

लिए उसे स्त्री धनुर्धारियों (स्त्रीगणैर्धेन्विभिः) के गण से घिरा होना चाहिए। मेगास्थनीज ने भी लिखा है कि “सभी प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित अंगरक्षिकाएं मौर्य राजा के साथ रहती थीं, जब वह शिकार के लिए जाता था।” सम्भवतः ये उन आदिवासी जनजातियों से आयी हों जिन्हें कौटिल्य ‘विक्रांत’ और अशोक के अभिलेख दुर्दम ‘आटविक’ कहते हैं। जो भी हो, पितृसत्तात्मक आर्यों के देवता इंद्र ने कई ऋचाओं में कहा है कि उन्होंने दास दस्यु सरदारों का ‘पुरुषत्व’ (नृत्नं) हर लिया है। ऐसे संदर्भों को रूपक मात्र मानने का कोई तुक नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि उपरोक्त सूक्त मेघदेवता इंद्र के सूर्य और उसकी किरणों से युद्ध की बात करते हैं, आर्य और दास जनजातियों की नहीं। परंतु वे इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि ‘दास’ अथवा ‘दह’ नाम से अभिहित जनजातियां ईसा पूर्व दूसरी पहली सहस्राब्दि में पश्चिमी एशिया में विद्यमान थीं। आर्य कबीलों ने दासों और उनकी स्त्रियों को युद्धबंदी बनाया और उन्हें गुलाम की तरह काम करने के लिए बाध्य किया। परिणामस्वरूप संस्कृत में ‘दास’ शब्द ‘गुलाम’ का ही पर्याय बन गया। ऋग्वेद में अनेक ऐसी दान स्तुतियां हैं जिनमें कवि अपने संरक्षक की इस बात के लिए प्रशंसा करता है कि उसने कवि को अनेक दास और दासियां भेंट में दी हैं।

प्रसिद्ध विद्वान दामोदर धर्मानंद कोसम्बी, जिन्होंने निस्संदेह भारतीय इतिहास लेखन को नयी दिशा दी, का मत था कि संस्कृत ग्रंथों में पाये गये मातृसत्तात्मक अथवा मातृवंशीय तत्व प्राकृतिक एवं अनार्य आदिवासी स्रोतों से आये थे। नृतत्वशास्त्र, क्षेत्रीय अनुसंधान और लिखित स्रोतों के गहन तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उनके आदि स्वरूप और आर्य संस्कृति के प्रभाव से हुए परिवर्तनों का विश्लेषण किया जाना चाहिए जो केवल यांत्रिक सांस्कृतिक आदान प्रदान के परिणाम नहीं थे बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी धीरे धीरे स्त्रियों द्वारा किये गये उत्पादन कार्यों के महत्व के घटने और ‘पितृसत्तात्मक उत्पादन’ पद्धति के विकास के परिचायक थे। उन्होंने उर्वशी और पुरुरवा के आख्यान के विभिन्न पाठों, ऋग्वेद के दशम मंडल के 95वे सूक्त से लेकर कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् तक का, सूक्ष्म विवेचन किया ⁹ और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ऋग्वेद का उर्वशी पुरुरवा संवाद उस आदिकालीन मातृदेवी के ‘पवित्र विवाह’ की परम्परा का द्योतक है जिसमें पुत्र और उत्तराधिकारी के जन्म के बाद उर्वरता की प्रक्रिया के सातत्य के लिए पति की बलि दे दी जाती थी। ऋग्वैदिक समाज में यह धार्मिक कृत्य केवल प्रती. कात्मक अनुष्ठान रह गया था जिसमें दो प्रधान पात्र उर्वशी और पुरुरवा का अभिनय करते थे परंतु इस संवाद का उर्वरता के लिए आनुष्ठानिक महत्व होने के कारण ही इसे संहिता में जगह मिली। इसी तरह का प्रतीकात्मक परिवर्तन अश्वमेध के अनुष्ठान में भी हुआ है जिसमें राजा की प्रधान रानी महिषी को मृत अश्व के साथ सोना होता था ¹⁰। कालिदास तक आते आते कहानी बिल्कुल उलट जाती है और जहां पुत्र की प्राप्ति पर पति की बलि होती थी, विक्रमोर्वशीयम् में पुत्र प्राप्ति पर मां उर्वशी को ही लुप्त हो जाना पड़ता है।

कोसम्बी के अनुसार अप्सरा उर्वशी की परिकल्पना का मूल स्रोत हड़प्पाई धर्म है जिसमें मातृदेवियों की जलपरी अप्सराओं के रूप में पूजा होती थी और स्नान प्रक्षालन सम्बंधी विशेष कर्मकांड थे। मोहनजोदड़ो का वृहत् स्नानागार ‘पुष्कर’ का ही पूर्व रूप है। वे देवी उषा को जो ऋग्वेद की सर्वप्रमुख देवी हैं और जिनकी स्तुति में कम से कम इक्कीस सूक्त रचे गये हैं, अप्सरा उर्वशी का ही श्रेष्ठतर रूप मानते हैं और उन ऋचाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जिनमें उषा और इंद्र के संघर्ष की बात कही गयी है, विशेष रूप से चौथे मंडल के तीसवें सूक्त की ओर, जिसमें कहा गया है कि इंद्र ने विपाशा नदी के तट पर उषा के शकट (अनसु) को पूरी तरह सम्पिष्ट कर दिया और उसे ताड़ित कर दूर देश में भगा दिया। इसमें वे हड़प्पाई सभ्यता की मातृदेवी पर आर्यों के पितृसत्ता के प्रतिनिधि प्रतीक, इंद्र की विजय देखते हैं। मार्टिनर व्हीलर द्वारा स्थापित तत्कालीन पुरातात्विक व्याख्याओं को आगे बढ़ाते हुए कोसम्बी ने कहा कि पशुचालक आर्यों के कबीलों ने आक्रमण करके सिन्धु घाटी की सभ्यता के नगरों को ही केवल ध्वस्त नहीं किया, उसकी अर्थव्यवस्था भी छिन्न भिन्न

कर दी। परंतु प्राक् आर्य सभ्यता के सभी तत्व बिल्कुल लुप्त नहीं हो गये। वैदिक युग में जिस सभ्यता की संरचना हुई वह विजित और विजयी जन समुदायों के सम्मिश्रण से बनी थी और इस प्रकार 'आर्य' किसी नस्ल का नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार से जीवन निर्वाह का तरीका और भाषासूचक शब्द बन गया। सामाजिक विषमता बढ़ने से कबीलों का विघटन वर्णों के रूप में हुआ और सैन्धव सभ्यता के प्रतिष्ठित पुरोहित वर्ग और आर्य कबीलों के पुरोहितों के संविलयन से ब्राह्मण वर्ण जाति बनी। यह प्रक्रिया ऋग्वेद के रचनाकाल में ही शुरू हो गयी होगी क्योंकि कोसम्बी अनेक ऋचाओं में हड़प्पाई पुरोहितों का प्रभाव देखते हैं। उनके अनुसार वैदिक परम्परा में मातृदेवियों का महत्व और मातृसत्तात्मक तत्व उद्विकास के सामान्य क्रम के प्रतिकूल पितृसत्तात्मक तत्वों के बाद इसीलिए उभरते हैं क्योंकि उनका स्रोत अनार्य संस्कृतियां थीं।

कोसम्बी द्वारा प्रतिपादित थीसिस को पूरी तरह मानने में अनेक कठिनाइयां हैं। पहली बात तो यह कि हड़प्पाई संस्कृति आर्यों के आक्रमण से ध्वस्त हुई इस सम्भावना को विश्वासोत्पादक पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक विश्लेषणों द्वारा नकारा जा चुका है और अब अधिकांश आधिकारिक इतिहासज्ञ एवं पुरातत्वविद् यह मानते हैं कि आर्य कबीले कई लहरों में आये थे और उनके आने से पहले ही हड़प्पाई सभ्यता कतिपय भौतिक और पर्यावरण सम्बंधी कारणों से नष्टप्राय हो चुकी थी। फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इस विशाल सभ्यता के कुछ अवशेष बचे रहे और नयी परिस्थितियों में आर्य कबीलाई समाज में घुल मिल गये। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार ऋग्वेद में ऐसे अनेक शब्द हैं जो गैर आर्य, द्रविड़ और मुंडा भाषाओं के मूल के हैं, विशेष रूप से कृषि सम्बंधी शब्द। इनकी संख्या उत्तर वैदिक साहित्य में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है और वे आर्यों और अनार्यों के बीच बढ़ती अंतर्क्रिया के चिह्न हैं। ऐसी अवस्था में इस सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता कि ऋग्वेद के कुछ मिथकों और धार्मिक क्रियाकलापों की प्रेरणा आर्येतर सूत्रों से आयी और उनका आर्यीकरण हो गया। परंतु क्या ऐसे सूत्रों को हड़प्पाई सभ्यता से जोड़ा जा सकता है? कोसम्बी ने यह मत बड़े जोरदार ढंग से बार बार प्रतिपादित किया है कि आर्य क्षत्रिय विजेताओं ने हड़प्पाई पुरोहित वर्ग को अपना संरक्षण दिया और उन्हें अपना पुरोहित बना लिया। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण और क्षत्रिय को पृथक अभिजात्य वर्णों के रूप में घनीभूत होने के मूल में यही परिघटना है और अधिकांश ब्राह्मण गोत्र हड़प्पाई मूल के हैं। इस मत के अंतर्विरोधों का विस्तृत विवेचन हम अन्यत्र कर चुके हैं।¹¹ फिलहाल इसे रोचक परंतु बिना किसी साक्ष्य के अटकलबाजी ही कहा जायगा।

जो भी हो, कोसम्बी द्वारा विवेचित उषा का आख्यान मातृदेवी की भूतकालीन महत्ता और पितृसत्ता के प्रतिनिधि इंद्र द्वारा उनके ताड़न और निष्कासन का तथा इंद्र के बढ़ते वर्चस्व का स्पष्ट प्रतिपादन करता है। कुछ अन्य मातृदेवियों के महत्व की झलक भी कहीं कहीं दिखायी दे जाती है। इंद्राणी को 'ऋत' (सार्वभौम नियम) बनाने वाली कहा गया है तो देवी सिनीवाली को 'विश्व' की रक्षा करने वाली और देवताओं की बहिन। अदिति तो इंद्रादि देवताओं की मां हैं। इस प्रकार के सभी प्रसंग 'अनार्य संस्कृतियों से अंतर्क्रिया के फल' नहीं माने जा सकते और यही मानना उचित होगा कि आर्य कबीलों की भी एक ऐसी पूर्वावस्था थी जिसमें मातृदेवियां, महत्वपूर्ण थीं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'उषा' नाम भारोपियन मूल का है। तदापि ऋग्वैदिक देवमंडल में मातृदेवियां परिधि पर ही दिखायी देती हैं और अक्सर उनका आह्वान देवताओं की पत्नियों के रूप में ही किया जाता है।

तदापि, मातृदेवियां केन्द्र में हों अथवा परिधिस्थ, दैवी स्तर पर उनकी परिकल्पना को मानवीय सम्बंधों का यथातथ्य प्रतिबिम्ब समझना समस्याजनक हो सकता है और भारतीय संदर्भ में तो यह विचित्र विरोधाभास देखा गया है कि ब्राह्मण धर्मग्रंथों में जैसे जैसे दुर्गा, काली आदि देवियों की आराधना को मान्यता मिलती है और उसका महत्व बढ़ता जाता है, स्त्रियों की अवस्था में लगातार गिरावट के लक्षण दर्ज होते हैं। स्त्रियों के सार्वजनिक क्षेत्रों से हटाये जाने के प्रमाण तो हमें वैदिक

ग्रंथों में ही मिलने लगते हैं। ऋग्वेद में एक सार्वजनिक संस्था, विदथ, का उल्लेख बार बार आया है। यह याज्ञिक अनुष्ठान था अथवा कोई सामुदायिक संगठन या सभा, इस पर विवाद है। पर निश्चय ही यह एक महत्वपूर्ण संस्था थी जिसमें भाग लेने योग्य होने की प्रार्थना कई स्त्रियों में की गयी है। ऋग्वेद के दूसरे मंडल के बाईस सूक्तों में विभिन्न देवताओं से प्रार्थना की यही टेक है कि 'हम वीर (पुत्रों) के साथ विदथ में जोर से बोलें (वृहद वदेय विदथे सुवीरा)।' परंतु महत्व की बात यह है कि दसवें मंडल के विवाह सूक्त (X.85) में गृहपत्नी के लिए कहा गया है कि वह (सम्बन्धियों के) घरों में जाय, 'वशिनी' बने यानी सबको वश में कर सके और वृद्धा होने तक विदथ में बोले। 'समन' के समान ही विदथ संस्था भी आगे चल कर लुप्त हो गयी और सायण ने इस शब्द का अर्थ कहीं 'यज्ञ', कहीं 'सभा', कहीं 'युद्ध' और विवाह सूक्त में 'गृह' लगाया है।

कहा गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी अपने आप में उनकी स्वायत्तता नहीं सिद्ध करती। मूल प्रश्न यह है कि उसकी यौनिक भूमिका किनके हित में थी, उसका उद्देश्य क्या था। परंतु हम यहां इस बात को नजरअंदाज नहीं कर सकते कि जिस समाज में यज्ञ में भाग लेने और वैदिक मंत्रों के उच्चारण करने का अधिकार प्रतिष्ठा की बात हो और वही ज्ञान और विद्या की कुंजी हो तो उससे वंचित होने का अर्थ था हाशिये पर चला जाना। अनंत सदाशिव अल्तेकर, संस्कृत के विद्वान सदाशिव अम्बादास डांगे, आदि अनेक प्रतिष्ठित अनुसंधाताओं का मत है कि यज्ञ अनुष्ठानों में जो मंत्र अथवा संवाद पहले यजमान की पत्नी बोलती थी, वे बाद में उद्गाता और नेष्टा पुरोहितों के विशिष्ट कर्म बन गये और इसी रूप में श्रौत सूत्रों में यज्ञानुष्ठानों की विधि का पुनर्संस्करण हुआ। नारी के विस्थापन के कारण के बारे में प्रोफेसर अल्तेकर ने अटकल लगाया कि स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में अवनति का प्रमुख कारण 'आर्य की गृहस्थी में अनाय पत्नी का पदार्पण' था। वे लिखते हैं कि आर्य राजा अनाय स्त्री से भी विवाह कर उसे अपने गृहस्थी का अंग बना लेता था। अनाय स्त्री न तो संस्कृत जानती थी और न 'हिन्दू धर्म'। वह यज्ञानुष्ठान में गलतियां कर बैठती होगी, जिससे कट्टर पंडित बहुत क्षुब्ध होते होंगे। परंतु एक शक्तिशाली राजा अपनी प्रिय अनाय पत्नी के प्रेम में पागल ऐसे पुरोहित वर्ग का आदेश क्यों मानेगा जो अपने जीवन निर्वाह के लिए उसी पर निर्भर हो। ऐसी कठिन परिस्थिति से बचने के लिए पुरोहितों ने पूरे स्त्री समाज को ही अयोग्य घोषित कर दिया। इस प्रकार की अतिसरलीकृत पुनर्रचना करते समय अल्तेकर ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि नियमानुसार केवल सवर्णा प्रथम पत्नी, महिषी, ही यज्ञ में भाग लेने की अधिकारिणी थी, सभी 'आर्य' पत्नियां भी नहीं। इसके अतिरिक्त आर्यतर भाषा भाषी जनों का संविलयन आर्य समुदाय में सभी स्तरों पर हुआ है। जो विद्वान ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति अनाय संस्कृति से नहीं जोड़ते वे भी इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि कुछ आर्यीकृत अनार्यों का भी कुछ सूक्तों की रचना में और वैदिक परम्परा का पूर्वी क्षेत्रों में प्रसारण में योगदान रहा है, जिससे ऋग्वेद में आर्यतर मूल की ध्वनियां और शब्द आ गये हैं। फिर प्रिय 'अनाय' पत्नी ही ऐसी 'अन्या' क्यों बन गयी जिसका फल सभी स्त्रियों को भुगतना पड़ा। यहां यह कहना भी आवश्यक है कि अल्तेकर ने इस सम्बंध में यह भी कहा कि पूर्व वैदिक युग में स्त्रियां उत्पादन के कार्यों में भाग लिया करती थीं इसलिए समाज में उनका स्थान ऊंचा था। परंतु बाद में शूद्रों के रूप में पराधीन सेवक वर्ग का श्रम उपलब्ध हो गया और ऊंचे वर्गों की स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन में भाग लेने की आवश्यकता न रही। इससे स्त्रियों की प्रस्थिति में गिरावट आ गयी। इस महत्वपूर्ण तर्क को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। उत्पादन से हटने पर स्त्रियों का महत्व उनकी प्रजनन शक्ति और मातृत्व पर ही अधिक केन्द्रित होगा, जैसा कि हम धर्मग्रंथों में पाते हैं।

जो भी हो, नारी के विस्थापन के संदर्भ में ऋग्वेद की वह ऋचा (VIII. 33.19) उल्लेखनीय है जिसमें 'ब्रह्मन्' पुरोहित को निर्देश दिया जा रहा है 'तुम नीचे की ओर देखो, ऊपर नहीं। अपने पैरों को मिला कर रखो। तुम्हारे नितम्ब कोई देख न पाये। हे ब्रह्मन्, तुम स्त्री हो गये हो।' ऋग्वेद में

सात प्रकार के पुरोहितों की चर्चा है जिनमें एक 'ब्रह्मन्' था। इस ऋचा के बारे में कोसम्बी का यह निष्कर्ष सर्वथा उचित मालूम देता है कि इसमें आनुष्ठानिक रूप से नारी के स्थान पर पुरुष पुरोहित को स्थापित किया जा रहा है और उसे नारी के समान व्यवहार करने की दीक्षा दी जा रही है। बाद में व्याख्याकारों ने इस दुर्बोध ऋचा का अर्थ निकालने के लिए नये मिथक गढ़े। परंतु इस सूक्त का पुरुषवादी दृष्टिकोण इन शब्दों में पहले ही व्यक्त किया गया है 'इंद्र ने स्वयं कहा था कि स्त्रियों के मन को शासन में रखना असम्भव है। स्त्रियों की बुद्धि छोटी होती है।'

कहने का तात्पर्य यह है कि नारी को हाशिये पर डालने की प्रक्रिया ऋग्वेद में ही शुरू हो जाती है। स्त्रियों का प्रमुख उद्देश्य है पुत्रधन, पशुधन, अन्नधन — सभी प्रकार के उत्पादन — में वृद्धि। स्पष्ट है कि आदिकालीन उर्वरता सम्बंधी धार्मिक कृत्यों में नारी की भूमिका अहम रही होगी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वैदिक यज्ञों में पत्नी की भागीदारी आवश्यक मानी गयी और उत्पादन बढ़ाने के लिए यौन संसर्ग के लाक्षणिक चित्रण का खुल कर उपयोग किया गया।¹² परंतु ब्राह्मण णिय विचारधारा की दो पितृसत्तात्मक प्रवृत्तियाँ, प्रजनन प्रक्रिया में पुरुष के वीर्य को सर्वाधिक महत्व देना और गौरवशाली व्यक्तियों के जन्म में नारी देह की भूमिका को बिल्कुल नकार देना, ऋग्वेद में ही देखी जा सकती है। सातवें मंडल के 33वें सूक्त में ऋषि वसिष्ठ और अगस्त्य की जन्मकथा का मिथक इस प्रकार वर्णित है। अप्सरा उर्वशी को देख कर मित्र और वरुण देवताओं का वीर्य खलन हो गया। विश्वदेवगण ने उसे पुष्कर में रख दिया। इस प्रकार ब्रह्मन् वसिष्ठ उर्वशी के मन से उत्पन्न हुए (मनसोधिजातः)। आगे चल कर इसी सूक्त में बताया गया है कि मित्र और वरुण ने सत्र यज्ञ करते समय अपने वीर्य का एक कुम्भ में खलन किया। उससे पहले मान (अगस्त्य) पैदा हुए, बाद में उसी घड़े से वसिष्ठ। कोसम्बी के अनुसार पुष्कर और कुम्भ मातृदेवी के प्रतीक हैं और यह कथा इन ऋषियों के मातृसत्ता से पितृसत्ता में संक्रमण करने का मिथकीय विवरण है। महत्व की बात यह है कि सम्भवतः यह पहला मिथक है जिसमें प्रसवन की प्रक्रिया में नारी देह के कर्म को अनावश्यक (और सम्भवतः अशुद्ध भी) माना गया। पुरानी परम्परा के जोर से वसिष्ठ के उर्वशी पुत्र होने की बात एकदम नकारी नहीं गयी परंतु उन्हें उर्वशी का मानस पुत्र बना दिया गया। आगे चल कर ऐसे पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण और भी सुदृढ़ हो जाते हैं। मत्स्यपुराण के तीसरे अध्याय में कहा गया है कि सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा ने पहले कठोर तपस्या की। तब उनके मन में पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा जागृत हुई और उन्होंने अपने मन से दस पुत्रों को उत्पन्न किया जो ब्रह्मा के 'मानसपुत्र' कहलाये। उनमें वसिष्ठ की भी गणना की गयी है और अन्यत्र भी वसिष्ठ को ब्रह्मा का मानसपुत्र बताया गया है। आगे इसी अध्याय में कहा गया है कि इन दस मानस पुत्रों के अतिरिक्त दक्षप्रजापति आदि कुछ अन्य पुत्रों को भी ब्रह्मा ने अपने शरीर के अन्य भागों से पैदा किया जो सबके सब 'मातृविहीन' थे। केवल ब्राह्मण मूलपुरुष और प्रजापति ही नहीं बल्कि राजाओं की पहली वंश परम्परा का आदिपुरुष विराज भी महाभारत (संशोधित संस्करण, XII 59. 117-8) के अनुसार किसी नारी से नहीं बल्कि विष्णु भगवान के इच्छा करने से पैदा हुआ था, उनका मानसपुत्र था।

जो भी हो, वैदिक मंत्रों की परम्परागत व्याख्या में अक्सर दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिकोण पर होती हैं। एक तो अनेक शताब्दियों के अंतराल पर रचे गये सर्वानुक्रमणी, वृहद्देवता आदि ग्रंथों में उपलब्ध मिथकों के आधार पर मंत्रों के प्रयोजन और उनके रचयिताओं की ऐतिहासिकता के बारे में धारणा बनाना, जबकि इतिहास की विश्लेषण पद्धति से कई विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ऋचाओं के मूल प्रयोजन के लुप्त हो जाने पर भी उनकी शाश्वतिक पवित्रता की भावना अक्षुण्ण रही और उनको समझने के लिए नये मिथक गढ़ लिये गये। दूसरी प्रवृत्ति है उर्वरता सम्बंधी सूक्तों को उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि से अलग कर उन्हें 'शृंगारी रहस्यवाद' मान कर कष्टकल्पित तात्विक व्याख्या करना और उन्हें सृष्टिवर्णन का रूपक सिद्ध करना। परंतु ऐसी कल्पनाओं द्वारा स्त्री पुरुष की जो छवि निर्मित हुई

है, फिलहाल हमारा वही विवेच्य विषय है। उदाहरण के लिए हम यम यमी (X.10) और लोपामुद्रा—अगस्त्य (I.179) संवाद सूक्तों को लें। उनमें स्त्री को अनियंत्रित, सम्भोग के लिए अति इच्छुक और पुरुष पात्र को संयमी और अच्यतर आदर्शों को समर्पित दिखाया गया है। अगस्त्य 'धीर' हैं, जाप में व्यस्त हैं। लोपामुद्रा 'अधीरा' है और अगस्त्य से कहती है, 'दिन रात बुढ़ापा लाने वाली उषाओं में मैंने तुम्हारी सेवा की है। बुढ़ापा शरीर का सौन्दर्य नष्ट कर देता है।' सूक्त के अंत में कहा गया है कि बाल बच्चे (प्रजा) पुत्र (अपत्य) और 'बल' की इच्छा रखने वाले 'उग्र' ऋषि अगस्त्य ने देवताओं के आशीष से दोनों वरणीय वस्तुओं (काम और तपोबल) को प्राप्त किया। यहां हम उस रूढ़िबद्ध धारणा की शुरुआत देख सकते हैं जिसके अनुसार स्त्री की भूमिका मायाजाल में फांसने वाली 'प्रलोभक' की होती है, वह पुरुष को सच्चे धर्म और मोक्षमार्ग से विचलित करती है और पुरुष अपनी कामेच्छा तृप्त करने पर भी तपस्वी ही रहता है। इसी का उत्सादित रूप हम सांख्य दर्शन में देख सकते हैं जिसमें स्त्री रूपा प्रकृति सृष्टि के लिए सक्रिय भूमिका निभाती है, वह माया है, और परम पुरुष सर्वोच्च तत्व है, निर्लिप्त और निष्क्रिय।

उत्तर वैदिक साहित्य में तो स्त्री की उत्कट यौनकर्म की भूख, उसकी अविश्वसनीयता और अमित अशुद्धता का सिद्धांत स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किये गये। एक ओर तो स्त्रियों पर नियंत्रण रखने के लिए श्रौत सूत्रों में वरुण श्रवांस जैसे याज्ञिक अनुष्ठान रचे गये जिसमें यजमान की पत्नी को अपने प्रेमी का नाम बताना पड़ता था और ऐसा न करने पर उसके सम्बंधी और प्रियजनों पर भारी विपत्ति आने का भय दिखाया जाता था। दूसरी ओर तैत्तरीय संहिता में कहा गया कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डालने से इंद्र को ब्रह्महत्या का पाप लगा। तब उसने अपना पाप पृथ्वी, वृक्ष और स्त्रियों में बराबर बराबर बांट दिया। साथ ही यह वरदान भी दिया कि यदि पृथ्वी में कोई गड़दा हो जायगा तो वह वर्ष के भीतर ही भर जायगा, वृक्ष कटने पर दुबारा अंकुरित हो जायेंगे और स्त्रियां ऋतुमती होकर संतान प्राप्त करेंगी और गर्भावस्था में भी बच्चा जनने तक सम्भोग कर सकेंगी। इसलिए स्त्रियों में ब्रह्महत्या मासिक स्राव के रूप में प्रकट होती है। उस समय उससे न बोलना चाहिए, न उसके पास बैठना चाहिए और न उसका दिया हुआ कुछ खाना चाहिए क्योंकि वह ब्रह्म हत्या का रंग छोड़ती रहती है।¹³ स्पष्ट ही इंद्र का 'वरदान' स्त्रियों की नैसर्गिक अशुद्धता और यौनिक भूख दोनों को रेखांकित करता है। ध्यान देने की बात है ब्राह्मणीय विचारधारा में 'शूद्र' और 'स्त्री' दोनों ही अशुद्ध योनियां मानी गयी हैं परंतु शूद्र की जन्मजात अशुद्धता उसके पूर्व जन्मों का फल है और स्त्री की अशुद्धता विधाता का विधान है। परिवार की सदस्या होने के कारण स्त्री हर स्थिति में तो अशुद्ध बनायी नहीं जा सकती थी परंतु मोक्ष के मामले में बाद के ग्रंथों में स्त्री का दर्जा शूद्र पुरुष से भी नीचा माना गया। विष्णुधर्म पुराण में कहा गया¹⁴ कि क्रियायोग द्वारा स्त्री भी मोक्ष प्राप्त कर सकती है, परंतु उसे क्रमशः शूद्र (पुरुष), वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णों में जन्म लेना होगा, और ब्राह्मण का जन्म पाकर निरंतर साधना के बाद उसे मुक्ति मिलेगी। इंद्र द्वारा ब्रह्महत्या का पाप निर्दोष स्त्रियों पर डाल कर अपने पाप से छुटकारा पाने की कथा महाभारत और भागवत पुराण में भी दुहरायी गयी है।

स्त्री और शूद्र को एक समान मानने का सिलसिला उत्तर वैदिक युग में ही शुरू हो जाता है जो वर्णव्यवस्था के उदय का काल भी है। शतपथ ब्राह्मण (XIV.1.1.31) में कहा गया है कि स्त्री, शूद्र, कुत्ता और कौआ असत्य, पाप और अंधकार के मूर्त रूप होते हैं। मैत्रायणी संहिता (I.10.11) में स्त्री को 'अनृत' यानी झूठ का अवतार कहा गया। शूद्र की भी यही स्थिति है। तैत्तरीय ब्राह्मण (III.2.3.9) के अनुसार शूद्र की उत्पत्ति ही 'असत्' (झूठ) से हुई है। बौधायन धर्मसूत्र (II.1.11.13) में स्त्री और शूद्र की हत्या कर देने पर एक ही प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। यदि शूद्र के लिए वैदिक कर्मकांड निषिद्ध थे तो इस क्षेत्र में स्त्रियों का भी विस्थापन हो रहा था। पांडुरंग वामन काणे कात्यायन श्रौतसूत्र का हवाला देते हुए लिखते हैं¹⁵ कि धीरे धीरे पत्नी की यज्ञ कृत्य सम्बंधी सारी

महत्ता विलीन हो गयी और वह यजमान और पुरोहित द्वारा किये जा रहे कृत्यों की मूकदर्शक मात्र बन कर रह गयी। इस बात की पुष्टि तैत्तरीय संहिता की उस उक्ति¹⁶ (VI.5.8.2) से होती है जिसमें कहा गया “स्त्रियां शक्तिरहित हैं, उन्हें ‘दाय’ नहीं मिलता। अतः वे पापी पुरुष से भी अधिक दुर्बल ढंग से बोलती हैं।” यद्यपि बाद में धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के ‘अदाया’ होने का अर्थ उनका सम्पत्ति में भागीदार नहीं होना लगाया गया, काणे का स्पष्ट मत है कि संहिता में सम्पत्ति में उत्तराधिकार का नहीं सोमरस पान का प्रसंग है और यहां केवल यही कहा गया है कि स्त्रियों को सोमरस पाने का अधिकार नहीं है। परंतु क्या यह आनुष्ठानिक निषिद्धि शुरू से ही थी? ऋग्वेद के आठवें मंडल (सूक्त 31) में ऐसे दम्पति का वर्णन किया गया है जो एकमत हो साथ साथ सोमरस निचोड़ते हैं, उसका शोधन करते हैं और यज्ञ करते हैं। कहा गया है कि वे पुत्रों और कुमारियों से सम्पन्न होते हैं और स्वर्ण से विभूषित हो पूर्ण आयु प्राप्त करते हैं। सोमरस घर घर बनाया जाता रहा होगा। ऋग्वेद के प्रथम मंडल (सूक्त 28) में कहा गया है कि नारी (गृहपत्नी) सोमरस को तैयार करते समय उलूखल (ओखल) के लगातार उठने और गिरने का ज्ञान रखती है और उलूखल से घर घर काम लिया जाता है। अपाला सूक्त (VIII.80) में कन्या अपाला अपने दांतों से सोमरस निचोड़ कर इंद्र को अर्पित करती है। हैन्स पीटर श्मिट के अनुसार¹⁷ अपाला इंद्राणी का ही एक रूप है। जो भी हो, कम से कम दैवी स्तर पर तो सोम का अर्पण केवल देवताओं को ही नहीं, उनकी पत्नियों को भी किया जाता था। ऋग्वेद के एक सूक्त (I.22.12) में इंद्राणी, वरुणानी और अग्नायी (अग्नि पत्नी) को भी सोमपान के लिए आमंत्रित किया गया। तैत्तरीय संहिता में स्त्रियों को ‘अदाया’ कहा जाना उनके आनुष्ठानिक विस्थापन की ही एक कड़ी प्रतीत होती है। परंतु उत्तर वैदिक युग के अंतिम चरण तक निजी सम्पत्ति की अवधारणा भी पूरी तरह विकसित हो चुकी थी और स्त्रियों के अस्वतंत्र होने का सिद्धांत भी। शतपथ ब्राह्मण ‘दाय’ का प्रयोग ‘सम्पत्ति में हिस्सा’ के अर्थ में करता हुआ स्पष्ट विधान करता है कि स्त्रियां न स्वयं अपने ऊपर अधिकार रखती हैं न ‘दाय’ पर।¹⁸ यह ग्रंथ स्त्रियों को पुरुषों पर आश्रित बनाने की विधियां भी बताता है।

स्त्री जाति को ही ‘शुभ’ अथवा ‘अशुभ’ घटनाओं का जिम्मेदार मानना भी पितृतंत्रात्मक मानसिकता का ही एक लक्षण है जिसके अनुसार स्त्री एक रहस्यमयी ‘अन्या’ है। इसका आभास हमें विवाह सूक्त (X.85) में ही मिलता है जब मंत्रों द्वारा कन्या को नारी राक्षसी ‘कृत्या’ के चंगुल से छुड़ाया जाता है और उसे अशुभ (दुर्मंगली), बुरी नजर वाली (अघारेचक्षु) और पति को मारने वाली (पतिघ्नी) नहीं होने का आशीर्वाद दिया जाता है। कामना की जाती है कि वह पति और उसके पशुओं के लिए मंगलकारिणी बने। पारस्कर गृह्य सूत्र (I. 11.2) में वह हानिकारक कृत्या जो वधू के बच्चों, पशुओं और गृह का विनाश करती उसे मंत्र द्वारा वधू के प्रेमी का विनाश करने वाली कृत्या में परिवर्तित कर देने की विधि बतायी गयी है। बाद के ग्रंथों में कुमारी कन्या एवं सौभाग्यवती नारी को शुभ माना गया है, और विधवा नारी को घोर अशुभ। छांदोग्य उपनिषद (V. 2.7-8) में स्वप्न में नारी को देखना बहुत ही शुभ लक्षण कहा गया है, इससे स्वप्नदर्शी की समृद्धि होती है।

वस्तुतः पितृस्थानिक पितृसत्तात्मक परिवार के सुचारु रूप से संचालन में गृहपत्नी की अहम भूमिका होती है और ऋग्वेद में पत्नी को ही घर (जायेद् अस्तम्) कहा गया है। पुत्र प्राप्ति के लिए पत्नी आवश्यक थी। ऐतिरेय ब्राह्मण के अनुसार पत्नी को जाया इसलिए कहा गया है क्योंकि पति पत्नी से पुत्र के रूप में जन्म पाता है। परंतु उसका पति के अनुशासन में रहना आवश्यक था। अथर्ववेद (II. 36.4) में कहा गया कि उसे पति का कभी विरोध नहीं करना चाहिए और बृहदारण्यक उपनिषद (IV. 4.2) के अनुसार पत्नी यदि पति की बात न माने तो उसकी केवल निन्दा ही नहीं करनी चाहिए बल्कि उसे शारीरिक बल प्रयोग द्वारा बाध्य किया जाना चाहिए। एक ओर तो अथर्ववेद (XIV. 1. 42) में पत्नी को अनुव्रता होने की शिक्षा दी गयी, दूसरी ओर अनेक स्थलों पर पत्नी के परपुरुषगामिनी हो जाने का भय व्यक्त किया गया है और गृह्यसूत्रों में ऐसी अभिचार विधियां बतायी गयी हैं जिनसे

पुरुष अपनी पत्नी को परपुरुषगामिनी होने से रोक सके। यदि कुल मिला कर देखें तो यह मनोग्रस्ति संक्रमण की अवस्था का सूचक है और नारी की यौनिकता पर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पितृसत्तात्मक नियंत्रण को रेखांकित करता है। यह केवल लैंगिक वर्चस्व की बात न थी इसका सीधा सम्बंध उभरते हुए सोपानमय सामाजिक स्त्रीकरण से था जो जन्म से निर्धारित वर्णों का रूप ले रहा था और जिनकी अलग पहचान के लिए नारी की यौनिकता पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण जरूरी था।¹⁹ वर्ण जाति में बंटे समाज की मुख्य विशेषता आंतर विवाह (इंडोगेमी) की प्रथा मानी जाती है, परंतु इसे आर्यतर कबीलों के वर्णधर्मी समाज में अधूरे संविलयन का अवशेष समझना उचित नहीं है। उपलब्ध उल्लेखों से प्रतीत होता है कि आरम्भ में अनुलोम विवाह स्वाभाविक और सर्वसम्मत थे। अथर्ववेद (V. 17.8-9) में कहा गया है कि नारी के यदि दस पति भी रहे हों तो यदि ब्राह्मण उसका हाथ पकड़ता है तो ब्राह्मण ही उसका पति माना जायगा। आगे कहा गया कि वस्तुतः ब्राह्मण ही उसका पति है, राजन्य नहीं, वैश्य नहीं। सर्वदमन सिंह²⁰ ने इस उद्धरण का उल्लेख बहुपतित्व के प्रमाण में किया है। यहां अनुलोम का समर्थन भी देखा जा सकता है। नारी ऐसी वस्तु अथवा सम्पत्ति थी जिसे दूसरों से छीना जा सकता था, ग्रहण किया जा सकता था परंतु देना अपमानजनक था। हिन्दू समाज के बहुसंख्य जातियों में बंटे होने के अनेक सामाजिक, आर्थिक और ऐतिहासिक कारण हैं पर उसमें इस मानसिकता का योगदान भी कम नहीं। अनुलोम विवाह और आंतर विवाह एक दूसरे के परिपूरक हैं। जहां तक उत्तर वैदिक युग में नारी की संरचना का सवाल है, ऐतरेय ब्राह्मण (33.1) में बड़े सटीक शब्दों में इस प्रकार वर्णित किया गया है, 'जाया सखा है, दुहिता मानमर्दन है और पुत्र सर्वोच्च व्योम का प्रकाश'।²¹

संदर्भ

1. Romila Thapar, **Shakuntala, Texts, Readings, Histories**, Delhi, 1999
2. ऋग्वेद संहिता, वैदिक संशोधन मंडल द्वारा सम्पादित 5 जिल्दों में, 1933-51; ऋग्वेद संहिता, सायणाचार्य के भाष्य और पंडित राम गोविन्द त्रिवेदी द्वारा हिन्दी भाषा में मंत्रों के अनुवाद सहित, 9 जिल्दों में चौखम्बा विद्यान भवन, वाराणसी, 1991
3. अथर्ववेद, IX. 3.13-14; 3.24; सुवीरा जायसवाल, वर्णजाति व्यवस्था, उद्भव प्रकार्य और रूपांतरण (अनुवादक : आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथशिल्पी, 2004) पृ. 214-15, दि. 18
4. इस प्रकार की गलतफहमियों के सही मूल्यांकन के लिए देखिए, Suvira Jaiswal, 'Reconstructing History from the Rigveda : A Paradigm Shift?' **Social Science** vol 18 no 2 (Dec - 2006), pp 1-18
5. सु. जायसवाल, वर्णजाति व्यवस्था, पृ. 135-210।
6. Sarva Daman Singh, **Polyandry in Ancient India**, Vikas Publishing House, New Delhi, 1978
7. Bhagwat Sharan Upadhyaya, **Women in Rigveda**, (2nd ed; Nand Kishore and Bros. Benaras, 1941), pp 39 f; 45f, 52f; Suvira Jaiswal, 'Inventing a Culture of Patriarchy', M. Venketarangaia Memorial Lecture - 14, Proceedings of A.P. History Congress, 26th Session, Anapartai, 2002, Appendix I.
8. Suvira Jaiswal 'Female Images in the Arthshastra of Kautilya', **Social Scientist**, Vol. 29 nos 3-4 (March, Apr. 2001), pp 51-9
9. Damodar Dharmanand Kosambi, **Myth and Riality** (Popular Prakashan, Bombay, 1962), pp 42-8)
10. Jogiraj Basu, **India of the Age of the Brahmanas...** (Pustak, Calcutta, 1966), pp 166-8
11. सुवीरा जायसवाल, वर्णजाति व्यवस्था, पृ. 155 और आगे
12. कृष्ण मोहन श्रीमाली, धर्म, समाज और संस्कृति (ग्रंथशिल्पी, दिल्ली, 2005) पृ. 123-4
13. P.V. Kane, **History of Dharmashastra**, Vol. II pt. ii (Bhandarkar Oriental Institute Pune, 1941) 801-3
14. Visnudharma, Chapter 98, quoted in Rajendra Chandra Hazra, **Studies in the Upapuranas**, Vol. I, (Sanskrit College, Calcutta, 1958), pp. 136; 153
15. P.V. Kane, op. Cit, p. 1000
16. Quoted in Kane, **History of Dharmashastra**, Vol II, pt.I, p. 576
17. Hans - Peter Schmidt, **Some Women's Rites and Rights in the Veda** (Bhandarkar Oriental Risharch Institute, Pune, 1987), pp 1-29
18. P.V. Kane. op. cit
19. S. Jaiswal 'Caste, Gendar and Ideology in the Making of India', General President, Address, **Proceedings of the Indian History Congress** 68th Session, Delhi, 2007
20. Sarva Daman Singh op, cit, pp 63-64
21. P.V. Kane, **History of Dharmashastra**, Vol. II, pt-1, p 509-10